**National Journal of Multidisciplinary Research and Development**
**ISSN: 2455-9040; Impact FIctor: RJIF 5.22**
**www.nationaljournals.com**
**Volume 2; Issue 2; May 2017; Page No. 144-148**

# जगत से सम्बन्ध के आधार पर ईश्वर की अवधारणा

डॉ. शिखा श्रीवास्तव
असिस्टेंट प्रोफेसर (अतिथि प्रवक्ता), दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

**प्रस्तावना**

ईश्वर का तात्पर्य एक ऐसी सत्ता से है जो सर्व व्यापक सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान के साथ साथ दयालु कृपालु करुणा क्षमा आदि गुणों से पूर्ण हो हिन्दू मुस्लिम यहूदी ईसाई आदि सभी धर्म भी थोड़े बहुत अंतर के साथ ईश्वर के इसी रूप में आस्था रखते है । सामान्य व्यक्ति भी इसी तरह के ईश्वर से अपना लगाव महसूस करता है । भक्त को यह पूर्ण विश्वास रहता है कि ईश्वर सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक दयालु एवं अत्यंत कृपालु है और वो अपने भक्तों के सारे दुखों को दूर कर देंगे । इस प्रकार ईश्वर एक ऐसी सत्ता है जिसमे तत्वमीमांसीय गुणों के साथ-साथ नैतिक गण भी पूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं । ईश्वरवादी इस विश्व का रचयिता और संचालक ईश्वर को ही मानते हैं । ईश्वर को इस जगत् का रचयिता मन जाता है । इस प्रकार उसका इस जगत से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध अवश्य है । यहाँ हमारा उद्देश्य ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न अवधारणाओं का विवेचन करना है ।

कुछ दार्शनिकों का यह विश्वास है कि जगत् ईश्वर कि सृष्टि है, कुछ दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर और जगत् में तादात्म्य सम्बन्ध है । इस तरह से ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त प्रचलित हैं ।

प्राचीन काल में ईश्वर के सम्बन्ध में अनेकेश्वरवाद, एकैकाधिदेववाद, और एकेश्वरवाद जैसी अवधारणाएं प्रचलित थी । अनेकेश्वरवाद के अनुसार एक से अधिक अलौकिक सत्ता में विश्वास । प्राचीन कल में बुद्धि पूर्ण विकसित नहीं होने के कारण लोग भूकंप बाढ़ आदि प्राकृतिक घटनाओं को समझने में असमर्थ थे जिससे वे प्राकृतिक आपदाओं से बचने के लिए प्राकृतिक शक्ति के रूप में ईश्वर कि उपासना करने लगे । जैसे - पृथ्वी, जल, वायु, नदी आदि । उनके अनुसार ये विभिन्न शक्तियां ही हमें भिन्न भिन्न रूपों में प्रभावित करती हैं अतः ईश्वर एक न होकर अनेक है। ईश्वर कि इस अवधारणा के कारण अनेक प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हुईं । जैसे - हिन्दू धर्म में ३३ करोण देवी देवताओं कि मान्यता है । इतने देवी देवताओं की एक साथ पूजा अर्चना कैसे की जा सकती है । अगर किसी एक देवता की पूजा नहीं हो पाई तब हमें उसके क्रोध का शिकार बनना पड़ेगा, इसके साथ साथ अनेक देवताओं को मानने से उनमें संघर्ष भी उत्पन्न हो जाएगा। कोई व्यक्ति किसी एक ईश्वर का वरदान पाकर किसी दूसरे व्यक्ति को कष्ट भी दे सकता है । इस तरह जगत् में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी ।[1] "यदि यह जगत् अंशतः न्याय और अंशतः उच्छश्रृंखलता के द्वारा नियंत्रित हो रहा है तो यह एक अनियंत्रण कि स्थिति है और इसे न्याय कदापि नहीं कहा जा सकता है" । अनेकेश्वरवाद में कई प्रकार के दोष होने के कारण इसके स्थान पर एकैकाधिदेववाद की स्थापना हुई।

एकैकाधिदेववाद में किसी एक ईश्वर को एक समय में अध्यक्ष बनाकर अन्य देवताओं को उसमे समाहित मान लिया गया और यह माना गया कि उसी समय विशेष में अध्यक्ष रुपी ईश्वर की उपासना करने से अन्य सभी ईश्वर अपने आप ही प्रसन्न हो जाएंगे। उसी एक ईश्वर की उपासना से ही अन्य सभी ईश्वर संतुष्ट हो जाएंगे । अब भी लोगों के मन में एक तरह का भय व्याप्त था कि अन्य ईश्वर की उपासना न करने से वो किसी भी समय असंतुष्ट होकर बुरा कर सकते हैं ।

जैसे- जैसे बुद्धि का विकास होता गया वैसे - वैसे ईश्वर कि अवधारणा बदलती गई। एकैकाधिदेववाद का स्थान

एकेश्वरवाद ने ले लिया। एकेश्वरवाद के अनुसार - ईश्वर एक नित्य, पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, चैतन्य सत्ता है । ऋग्वेद के अनुसार - "एकम् सद्व विप्रः बहुधा वदन्ति"[2] इस प्रकार एक ही ईश्वर की सत्ता है और विभिन्न देवता उसी ईश्वर के विभिन्न रूप हैं । ईश्वर और जगत के सम्बन्ध के आधार पर देववाद, सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद और सर्वातिसर्वेश्वरवाद जैसी चार प्रकार की अवधारणाओं का विकास एकेश्वरवाद के अंतर्गत ही हुआ ।

ईश्वर और जगत में सम्बन्ध के आधार पर सर्वप्रथम हम देववाद कि अवधारणा का वर्णन करेंगे । देववाद को एकेश्वरवाद का ही एक प्रकार माना जाता है। देववाद के अनुसार ईश्वर को जगत का रचयिता माना गया है, अर्थात् किसी विशेष समय में ईश्वर ने जगत की रचना की है । इस सिद्धांत के अनुसार जगत कि रचना करने के बाद ईश्वर इस जगत से परे चला जाता है न कि जगत् का पालन पोषण करने के लिए जगत में अन्तर्व्योत रहता है । जगत् की रचना करते समय ही ईश्वर उसे भौतक और आध्यत्मिक रूप से पूर्ण बना देता है और उससे परे चला जाता है। राबर्ट फ्लिन्ट के अनुसार - "देववाद न केवल ईश्वर का जगत् से भेद करता है बल्कि उसे जगत से पृथक और परे भी कर देता है, यह जगत आवश्यक नियमो के द्वारा स्वतः ही चलता रहता है" ।[3] इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर को इस जगत् का प्रथम कारण माना गया है और ईश्वर के द्वारा दी गई शक्ति एवं नियम गौड़ कारण हैं ।[4] जे मार्टिन्यू के अनुसार - "यह जगत द्वितीय कारण की एक विशाल पत्रिका है जो अपनी आंतरिक शक्ति के द्वारा स्वतः ही संचालित होती है तथा जो अपने कार्य को सुप्तावस्था में भी कर सकती है" ।[5] इस प्रकार देववाद की यह मान्यता है जगत की रचना करके ईश्वर उससे परे चला जाता है और जब जगत में कोई अब्यवस्था उत्पन्न होती है तब वह स्वयं हस्तक्षेप उस अब्यवस्था को दूर करता है। इस प्रकार के ईश्वर के हस्तक्षेप को चमत्कार कि संज्ञा दी जाती हैं। ईश्वर मशीन कि निगरानी करता है और कभी-कभी जब वह कोई अवसर देखता है तो वह दैवीय शक्ति के विशेष क्रियाओं के द्वारा हस्तक्षेप करता है तथा प्राकृतिक शक्तियों को नियंत्रित करने के लिए अपनी दैवीय शक्ति का आकाशमीक प्रयोग करता है, यह एक चमत्कार तथा विशेष दूरदर्शिता की भांति है जो मशीन के सामान्य क्रिया कलाप से परे है।[6] जिस तरह से घडीसाज़ घडी का निर्माण कर के उससे पृथक हो जाता है और जब उसमे कोई दोष होता है तब उसे वह पुनः ठीक कर देता है । उसी तरह से ईश्वर भी जगत की रचना कर के उससे पृथक हो जाता है और दोष तथा अब्यवस्था उत्पन्न होने पर पुनः उसमे हस्तक्षेप कर के उसे दूर कर देता है ।

ईश्वर और घड़ीसाज़ में यह अंतर है कि घड़ीसाज़ घडी की सामग्री का उपयोग घडी बनाने में करता है जबकि ईश्वर को किसी भी उपादान कारन की आवस्यकता नहीं होती है। ईश्वर शुन्य से जगत का निर्माण करता है। देववाद के सिद्धांत के अनुसार ईश्वर सृष्टि की रचना करते समय ही मनुष्य को संकल्प की स्वतंत्रता प्रदान कर देता है। जब मनुष्य संकल्प की स्वतंत्रता का दुरूपयोग करके अनुचित का वरन् करता है तब अशुभ की उत्पत्ति होती है। इस तरह जगत में जो भी शुभ या अशुभ है वह हमारी संकल्प की स्वतंत्रता का परिणाम है ।

इस अवधारणा में कई प्रकार के दोष दिखाई पड़ते है। सर्वप्रथम यह समस्या उत्पन्न होती है कि ईश्वर शुन्य से जगत की उत्पत्ति किस प्रकार कर सकता है । शुन्य का अर्थ है आभाव या रिक्तता, आभाव का अर्थ है, असत् अर्थात् असत् से इतने विशाल जगत की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है । गीता में कहा गया है, 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।[7] अर्थात् जो सात है उसका आभाव नहीं हो सकता है तथा जो असत है उसका भाव नहीं हो सकता है। इस प्रकार शून्य से इस जगत की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ।

देववाद के अनुसार - ईश्वर जगत कि रचना कर के उससे परे चला जाता है तब ऐसे ईश्वर से हमारा लगाव कैसे हो सकता है । हमें ऐसा ईश्वर चाहिए जो हमारी पुकार सुन सके हमारे सुख दुख को दूर कर सके, हमारे समीप रहे । यदि माता - पिता बच्चे को पैदा कर के अनाथालय में डाल दें तो ऐसे माता - पिता को हम कैसे याद करेंगे । जगत की रचना करने के बाद अगर ईश्वर इससे परे चला जाता है तो स्वाभाविक है कि मनुष्य उसे भूलकर भौतिकवादी और निरीश्वरवादी हो जायेगा।वास्तव में देववाद की प्रवृत्ति धर्म की शुद्ध बौद्धिक व्याख्या करना था, जो मनोवैज्ञानिक रूप से असत्य एवं आध्यत्मिक रूप से अपर्याप्त

है। तात्पर्य यह है कि आध्यत्मिक की अपेक्षा यह एक बौद्धिक आंदोलन है ।[8] इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर ने जगत् की रचना की है तो जगत् में अशुभ क्यों है । यदि जगत में अशुभ ईश्वर की इच्छा से है तो ईश्वर दयालु नहीं है और यदि ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध है तो वह सर्वशक्तिमान नहीं है। इस समस्या का संतोष जनक समाधान न हो सका ।

कई दोषों के कारन यह अवधारणा धीरे - धीरे समाप्त हो गई । ईश्वर और जगत में सम्बन्ध के आधार पर दूसरी अवधारणा सर्वेश्वरवाद के रूप में आयी। सर्वेश्वरवाद भी एकेश्वरवाद का ही एक रूप है । गैलोव के अनुसार - सर्वेश्वरवाद धार्मिक विचार की वह अवस्था है जो देववाद के ठीक विपरीत एवं ऐतिहासिक रूप से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।[9] सर्वेश्वरवाद के अनुसार वास्तव में ईश्वर की ही सत्ता है।जगत भी ईश्वर का ही एक रूप है। यदि सब कुछ ईश्वर का ही रूप है तो इसमें संकल्प की स्वतंत्रता के लिए स्थान कैसे हो सकता है\ ईश्वर सर्वज्ञ है, उसे मनुष्य के सभी क्रिया - कलापों का पहले से ही ज्ञान है तो मनुष्य स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है। राबर्ट फ्लिंट के अनुसार - सर्वेश्वरवाद में नियतिवाद और एकेश्वरवाद दोनों का समन्वय हो जाता है।10 सर्वेश्वरवाद ईश्वर को जगत से पृथक ना मानकर दोनों में पूर्ण तादात्म्य के सम्बन्ध को मानता है।

सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर निर्गुण और निराकार है। ईश्वर जगत के कण- कण में विद्यमान है। विश्व को ईश्वर से पृथक नहीं किया जा सकता है। ईश्वर ही स्वयं को जगत की विविध वस्तुओं और प्राणियों के रूप में अभिव्यक्त करता है, इस सिद्धांत के अनुसार जगत की ईश्वर से पृथक कोई सत्ता नहीं है। ईश्वर जगत के कण-कण में उसी प्रकार से विद्यमान है जैसे - दूध में सफेदी और शरीर में आत्मा ।[12] सर्वेश्स्वरवाद का पूर्ण विकसित रूप स्पिनोजा के दर्शन में विद्यमान है । स्पिनोजा के दर्शन में यह माना गया है कि सृष्टि ईश्वर का स्वाभाव है, उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, किन्तु व्यक्त होकर भी उनके बाहर नहीं आती क्योंकि ईश्वर के बाहर कुछ है ही नहीं। जैसे- प्रकाश से किरणों का मिलना स्वाभाविक है, जैसे हवा चलने पर जल का लहरों के रूप प्रतीत होना स्वाभाविक है[13], जैसे- त्रिभुज की स्थिति मात्र से यह सिद्ध हो जाता है कि उसके तीनों कोनों का योग दो समकोण के बराबर होना स्वाभाविक है वैसे ईश्वर से सृष्टि की अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक है। भक्ति काल के बहुत से कवियों और संतों ने भी ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में इसी अवधारणा को स्वीकार किया है।

देववाद के सामान सर्वेश्वरवाद में भी अनेक कठिनाइयां भी उत्पन्न हुई हैं। सर्वेश्वरवाद की मुख्य समस्या यह है कि इसके अनुसार ईश्वर ही सब कुछ है तथा सब कुछ ईश्वर है, यदि ऐसा है तो ईश्वर और भक्त में किसी प्रकार का भेद नहीं हो सकता है, यदि ईश्वर और भक्त एक ही हैं तो ईश्वर की उपासना का प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। दूसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को निर्गुण और निराकार माना गया है। अर्थात् ईश्वर एक निर्वैयक्तिक सत्ता है। ऐसे ईश्वर में इच्छा, भावना, विचार, प्रेम, करुणा, उदारता, आदि व्यक्तित्व सम्बन्धी गन नहीं होते हैं। इन गुणों के आभाव में ईश्वर भक्तों की उपासना या पूजा का विषय नहीं बन सकता है। तीसरी कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि ईश्वर पत्थर में भी उसी प्रकार से व्याप्त है जिस प्रकार से मनुष्य में। सर्वेश्वरवाद को मान लेने से एक कठिनाई और यह है कि सीमित प्राणी होने के कारण मनुष्य का अनुभव सीमित और अपूर्ण है। सर्वेश्वरवाद मनुष्य और ईश्वर के मूल भेद को स्वीकार नहीं करता है । अतः इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य का अनुभव असीम ईश्वर के अनुभव का ही एक अंश है । इसका अर्थ है कि मनुष्य का सीमित सुख दुःख असीम ईश्वर के अनुभव का ही एक अंश है । किसी भी सीमित प्राणी का सीमित अनुभव किसी असीम ईश्वर के असीम अनुभव के समान कैसे हो सकता है । सर्वेश्वरवाद की एक कठिनाई यह है कि यह सिद्धांत मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता और नैतिक मूल्यों का भी निषेध करता है ।

उपर्युक्त कठिनाई होते हुए भी इस इस सिद्धांत का अत्यधिक महत्व है । इस सिद्धांत का विश्व में विविधता होते हुए भी इसके मूल में एक परम सत्ता को ही मानता है जो इस विविधता का अंतिम आधारभूत तत्त्व है। ईश्वर और विश्व में तादाम्य सम्बन्ध मानते हुए भी मनुष्य में संकल्प की स्वतंत्रता का अपहरण नहीं होता है, बल्कि उसका दैवीयकरण हो जाता है। मनुष्य की इच्छा दैवीय इच्छा में समाहित हो जाती है। जब मनुष्य की इच्छा दैवीय इच्छा में समाहित हो जाती है तो वह व्यक्ति ईश्वरत्व को प्राप्त हो जाता है।[14] गीता में श्री कृष्णा ने अर्जुन से भी यही कहा है - सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणम् व्रज। अहम् त्वाम सर्व्पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[15] अर्थात् तू सब कुछ छोड़कर मेरी शरण में आ जा मैं तुझे सारे पापों से मुक्त कर दूंगा। कठिनाइयों के होने के बाद

भी हम यह कह सकतें है कि सर्वेश्वरवाद धर्म और दर्शन की दृष्टि से महत्वपूरण सिद्धांत है ।

**ईश्वरवाद**

ईश्वरवाद देववाद और सर्वेश्वरवाद का मिश्रित रूप है। ईश्वरवाद में ईश्वर को जगत से परे और उसमे अंतर्व्याप्त दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है । ईश्वरवाद में देववाद की तरह ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण, चेतन एवं नित्य सत्ता के रूप में माना गया है, जिससे वह भक्तों के आराधना और पूजा का विषय बन सके, किन्तु ईश्वरवाद, देववाद की तरह यह नहीं मानता है कि ईश्वर जगत की रचना करने के बाद इससे दूर चला जाता है, वास्तव में ईश्वर जगत की रचना करने के बाद जगत से परे जाकर अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं करता है बल्कि जगत में ही अंतर्व्याप्त रहकर इसका पालन पोषण करता है । कुछ ईश्वरवादी दार्शनिक ईश्वर को जगत का निमित्त कारण मानते हैं तथा कुछ दार्शनिक निमित्त और उपादान दोनों ही कारण मानते हैं । ईश्वरवादियों के अनुसार-जगत ईश्वर की रचना होने के कारण अपने सतीत्व के लिए ईश्वर पर आश्रित है । तथापि ईश्वर ने व्यक्ति को संकल्प की स्वतंत्रता भी प्रदान की है जिससे नैतिकता की रक्षा और भक्तों को संतुष्टि मिल सके। पाश्चात्य दर्शन में देकार्त, लाइब्नित्ज़, जार्ज बर्कले, प्रिंगल पैटिंसन, जेम्स वार्ड आदि इसके समर्थक हैं। इसी तरह भारतीय दर्शन में उदयनाचार्य, रामानुजाचार्य, माधवाचार्य, बल्लभाचार्य आदि इसके समर्थक हैं ।

ईश्वरवादियों के इस मत को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि ईश्वर विश्वातीत होने के साथ साथ विश्वव्यापी भी है। ऐसा मानने पर स्वतोव्याघात उत्पन्न हो जाएगा । यदि ईश्वर विश्वव्यापी है तो उसे विश्वातीत नहीं माना जा सकता है और यदि ईश्वर विश्वातीत है तो उसे विश्वव्यापी नहीं माना जा सकता है। समस्यावों के होने पर भी यह सिद्धांत धार्मिक दृष्टिकोण से अन्य दार्शनिक मतों से अधिक सुसंगत प्रतीत होता है । गैलोव के अनुसार- ईश्वरवाद ।[6] का अभ्युदय धार्मिक भावनावों की आकांछाओं एवं आवश्यकताओं को संतुष्ट करने के लिए होता है। धर्म की सर्वोत्तम संभावना ईश्वरवादी धर्म के रूप में ही हो सकती है । एक ऐसे धर्म के रूप में जिससे एक व्यक्तित्वपूर्ण एवं पूर्ण ईश्वर पूजा का विषय होता है । अतः हम यह कह सकते हैं कि यह अवधारणा धर्म और दर्शन से सुसंगत है ।

**सर्वातिसर्वेश्वरवाद**

ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद के कमियों को दूर कर के सर्वातिसर्वेश्वरवाद की अवधारणा की स्थापना हुई । ईश्वरवाद में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है जबकि सर्वेश्वरवाद में ईश्वर को निर्गुण और निर्वैयक्तिक माना गया है। सर्वातिसर्वेश्वरवाद में ईश्वर को एक साथ व्यक्तित्वपूर्ण और निर्वैयक्तिक दोनों ही रूपों में माना गया है । ब्रह्म स्वरूपतः निर्गुण, निराकार एवं निर्वैयक्तिक होते हुए भी सृष्टि की दृष्टि से सगुण, साकार एवं व्यक्तित्वपूर्ण है ।

सर्वातिसर्वेश्वरवाद में जगत को ईश्वर कि अभिव्यक्ति माना गया है जगत् ईश्वर कि अभिव्यक्ति है । यह अभिव्यक्ति दो प्रकार कि होती है । प्रथम प्रकार वास्तविक रूपांतरण है, जिसके अनुसार यह जगत् ईश्वर का वास्तविक रूपांतरण है, जिसके अनुसार जगत ब्रम्ह का अवास्तविक रूपांतरण अर्थात् आभाव या विवर्त है । हेगल जगत को वास्तविक मानते हैं जबकि शंकराचार्य जगत को ब्रम्ह का विवर्त मानते हैं। सर्वातिसर्वेश्वर्वाद का पूर्ण विकसित रूप भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के दर्शन में मिलता है । आचार्य शंकर ब्रम्ह के दो प्रकार के लक्षणों को मानते हैं । तटस्थ लक्षण और स्वरुप लक्षण। तटस्थ लक्षण के कारण ब्रम्ह ही जगत् कि उत्पत्ति, स्थिति और निमित्त कारण दोनों है । शंकराचार्य के अनुसार यह जगत् ब्रम्ह का विवर्त या आभास है । जगत् ब्रम्ह का वास्तविक रूप नहीं है, क्योंकि वास्तव में ब्रम्ह कूटस्थ, नित्य है और सभी प्रकार के परिवर्तनों से रहित है। तटस्थ लक्षण के आधार पर ही ब्रम्ह व्यक्तित्वपूर्ण होता है ।

ब्रम्ह का स्वरूप तो सत् चित् आनंद है। जो सत् है वही चित् है और वही आनंद है। ब्रम्ह वास्तव में निर्गुण और निर्विकार है । हम भाषा के द्वारा उसका निर्वचन नहीं कर सकते हैं। ब्रम्ह ही एक मात्र सत्य है और जगत् मित्थ्या है ।

सर्वातिसर्वेश्वरवाद के विरुद्ध भी यह आक्षेप लगाया जाता है कि अगर जगत् आभास है या विवर्त है तब शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, सत्य-असत्य आदि का भेद ही समाप्त हो जाएगा । इस तरह से हम नैतिकता और अनैतिकता में भेद कैसे कर

पाएंगे। स्वेट्जर के अनुसार -१७ शंकराचार्य के दर्शन में न तो कोई चीज शुभ है और न ही अशुभ। माया सिद्धांत में विश्वास करने वालों के लिए नैतिकता का केवल सापेक्ष महत्व है ।

कमियों के बावजूद सर्वातिसर्वेश्वरवाद ईश्वर को उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत करता है। इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर विश्व में ब्याप्त होने के साथ साथ विश्व से परे भी है । इस कारण ईश्वर विश्व की बुराइयों से अलग है । यह सिद्धांत ईश्वर को विश्व का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों ही मानता है। वही ईश्वर पूर्ण है जो विश्व की रचना के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं करता है । इस प्रकार इसमें पूर्ण ईश्वर की अवधारणा विद्यमान है । इस दृष्टि से यह सिद्धांत ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद दोनों से महान है ।

ईश्वर और जगत के सम्बन्ध में उपर्युक्त समस्त अवधारणाएं वास्तव में ईश्वर विषयक हृदयगत अनुभूति के उदगार हैं इन्हे सत्यापित या मित्थ्यापित नहीं किया जा सकता है। जिसकी ईश्वरानुभूति जितनी गहरी होगी उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही प्रगाढ़ होगी। सिर्फ अपने विचार को ही सत्य मानना अनुचित है। तर्क के आधार पर तो सभी ईश्वरवादी अवधारणाओं का खंडन किया जा सकता है पर वास्तव में ईश्वर तर्क का विषय न होकर आस्था का विषय है । श्रद्धा के प्रकाश में ईश्वरवादी जगमगाते है किन्तु तर्क की अग्नि में वे झुलस जाते है। इस प्रकार ईश्वर को देखा या कहा नहीं जा सकता है परन्तु ईश्वरीय कृपा के प्रभाव का सिर्फ अनुभव किया जा सकता है ।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**


1. जी मैग्गरीगर (१९५९) इंट्रोडक्शन टू रिलिजियस फिलॉसफी पृ0 ५४
2. ऋग्वेद १/१६४/४६
3. फ्लिंट रॉबर्ट(१८७९) “एंटी थेइस्टिक थ्योरिस” पृ० ३३९
4. ऋषिकांत पांडेय (२०१६) पृ० १११
5. जेम्स मार्टिन्यू (१९८८) “ए स्टडी ऑफ रिलीजन इट्स सोर्सेस एंड कंटेंट्स” पृ०- १३५ ६- आर०ए० आर्मस्ट्रांग (१८९६) “गॉड एंड थे शोल” पृ०- ४१-४२
6. श्रीमद्भागवतगीता २/१६
7. जॉर्ज गैलोव(१९६०) “द फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन” पृ०- ४६०
8. जॉर्ज गैलोव (१९६०) “द फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन” पृ०- ४६०
9. फ्लिंट रॉबर्ट (१८७९) “एंटी थेइस्टिक थ्योरिस” पृ०- ३३६
10. वेद प्रकाश वर्मा (२००१) “धर्म दर्शन की मूल समस्याएं” पृ०- १४२
11. आइबिड
12. चंद्र धर शर्मा (१९९८) पास्चात्य दर्शन पृ० -११०
13. ऋषिकांत पांडेय (२०१६) “धर्म दर्शन” पृ०- ११८
14. श्रीमद्भागवतगीता (१८/६६)
15. जॉर्ज गैलोव (१९६०) “द फिलॉसॉफी ऑफ रिलीजन” पृ०- ४६६
16. स्विट्ज़र अल्वर्ट (२००६) इंडियन थॉट इट्स डेवलेपमेंट पृ0- 1